THE ECONOMIC TIMES

Date:17-04-24

Intimidation is Not Investigation

ET Editorials

The Bombay High Court's disapproval of the use of late-night interrogation as an 'investigation' tactic used quite regularly by the likes of Enforcement Directorate is welcome. While underlining that depriving a person of sleep is violative of basic human rights — and that suspects, persons of interest and witnesses have these rights guaranteed in law — the sharper point being made is that using intimidation as a purported investigative tool is wrong. For another, it serves no purpose except to showcase strong-arm tactics. What's good for questioning at midnight is good for questioning at midday.

Tactics such as late-night interrogations are supposed to create psychological pressure and to tire out the person under scrutiny. Investigators in a liberal democracy like India — all too familiar with the 'midnight knock' during the Emergency of the 1970s — would hardly do themselves, and their bosses, any favour by playing mind games that simply emphasise power that state machineries hold over individuals. But the bottom line is that in terms of conducting investigations, such B movie scripting only brings undue suspicion and disrepute to these otherwise-competent authorities.

Sure, safeguards must be put in place to ensure that integrating basic rights into investigation tactics is not used to block investigations. The core concern must be a robust investigation and to ensure that methods used add value to the outcome, not prejudice it. The courts, too, must factor in these restrictions used when deciding on issues like period of judicial remand. But Justices Revati Mohite Dere and Manjusha Deshpande are absolutely right in ordering ED to be mindful of passing off intimidation as part of the investigative process. It is not.

दैनिक भास्कर

Date:17-04-24

ईरान और इजराइल में लड़ाई हमारे लिए भी बुरी खबर होगी

पलकी शर्मा, (मेनेजिंग एडिटर)

इजराइल और ईरान जानी दुश्मन हैं। वे एक-दूसरे को नेस्तनाबूद कर देने की कसमें खाते हैं, और यह कोई बड़बोलापन नहीं है। दो हफ्ते पहले, इजराइल ने सीरिया के दमिश्क में स्थित ईरान के वाणिज्य दूतावास पर हमला किया था। उसके

बाद ईरान ने पलटवार किया। इजराइल पर करीब 300 मिसाइलें और ड्रोन बरसाए गए। इससे इजराइल को होने वाली क्षति न्यूनतम थी, लेकिन संदेश स्पष्ट था- ईरान ऐसी हरकतों को चुपचाप बर्दाश्त नहीं करेगा। समाचार - मीडिया में अभूतपूर्व शब्द का भरपूर दुरुपयोग किया जाता है, लेकिन यह वास्तव में अभूतपूर्व घटना थी । ईरान ने अतीत में कभी भी इजराइली क्षेत्र पर सीधे हमला नहीं किया था। ऐसे में लाख टके का सवाल यह है कि आगे क्या होगा ? क्या यह एक बड़े युद्ध का रूप लेगा? या ठंडे दिमाग से फैसले लिए जाएंगे?

भारत तो यही उम्मीद कर रहा है कि फैसले ठंडे दिमाग से ही लिए जाएं। इसका कारण यह है कि इस बार भारत दो पाटों के बीच में फंस गया है। इजराइल और ईरान दोनों ही उसके महत्वपूर्ण सहयोगी हैं। दोनों देशों में भारत का आर्थिक और राजनीतिक निवेश है। इसलिए किसी एक पक्ष को चुनना लगभग असंभव है, और नई दिल्ली से जारी किए गए बयानों से भी यह झलकता है। कोई आरोप-प्रत्यारोप नहीं, कोई आलोचना नहीं और कोई पक्षपात नहीं। भारत दोनों ही देशों से तनाव कम करने के लिए कह रहा है। क्योंकि अगर यह टकराव बढ़ता है तो भारत को कुछ कठिन विकल्पों का सामना करना पड़ेगा।

भारत के लिए पहला फैक्टर व्यापार होगा। भारत-इजराइल ट्रेड करीब 7.5 अरब डॉलर का है। वहीं ईरान से भारत का व्यापार करीब 2.5 अरब डॉलर का है। लेकिन एक महत्वपूर्ण अंतर है। ईरान पर पश्चिमी देशों ने प्रतिबंध लगा रखा है, इसलिए भारत उससे बहुत कम तेल खरीदता है। प्रतिबंधों से पहले, 2015 में भारत-ईरान व्यापार लगभग 13 अरब डॉलर से अधिक था । और लंबे समय तक, तेहरान हमारा प्रमुख एनर्जी सप्लायर था। वहीं इजराइल से भारत सैन्य उपकरण खरीदता है। वास्तव में, आज भारत इजराइल का टॉप डिफेंस बायर है। दूसरा फैक्टर राजनीतिक है । प्रधानमंत्री मोदी ने इजराइल से अपने संबंधों में काफी निवेश किया है। 2017 में तेल अवीव की अपनी यात्रा के साथ ही उन्होंने इजराइल और फिलिस्तीन को डी- हाइफनेट कर दिया था यानी उन्होंने बता दिया था कि भारत के इजराइल से स्वतंत्र सम्बंध होंगे और इजराइल-फिलिस्तीन संघर्ष का उस पर असर नहीं होगा। तभी से, इजराइल भारत का प्रमुख सहयोगी रहा है। वहीं भारत फिलिस्तीनियों के अधिकारों का समर्थन करना भी जारी रखता है। लेकिन ईरान के साथ मामला थोड़ा अलग है। भारत-ईरान के बीच सांस्कृतिक और भाषाई संबंध, दीर्घकालिक राजनीतिक आदान-प्रदान और बहुत सारा साझा इतिहास रहा है। हमें तेहरान से कुछ असहज कर देने वाले बयान भी समय-समय पर मिलते रहे हैं, खासकर कश्मीर पर, लेकिन उससे हमारे संबंध काफी हद तक स्थिर रहे हैं।

तीसरा फैक्टर रणनीतिक संबंधों का है। भारत इजराइल को यूरोप के प्रवेश द्वार के रूप में देखता है। पिछले साल 20 में भारत ने इजराइल के माध्यम से यूरोप से जुड़ने के लिए एक नए इकोनॉमिक कॉरिडोर की घोषणा की थी। दोनों देश आई2यू2 नामक एक राजनीतिक समूह का भी हिस्सा हैं, जिसके अन्य सदस्य अमेरिका और यूएई हैं। यह पश्चिम एशियाई क्वाड की तरह है। वहीं ईरान के साथ भारत के अफगानिस्तान में साझा हित हैं। दोनों ही देश अफगान - अल्पसंख्यकों के अधिकारों का समर्थन करते हैं और दोनों अफगानिस्तान में चल रहे आतंकी शिविरों के विरोधी हैं। भारत ईरान को मध्य एशिया के प्रवेश द्वार के रूप में देखता है। हम दक्षिण-पूर्व ईरान में चाबहार बंदरगाह पर एक व्यापारिक टर्मिनल भी बना रहे हैं। यह किसी ओवरसीज बंदरगाह में भारत का पहला निवेश है और इसकी कीमत लगभग 8.5 करोड़ डॉलर है। इसका मकसद पाकिस्तान को बायपास करते हुए अफगानिस्तान व मध्य- एशिया तक पहुंचने के लिए चाबहार का उपयोग करना है।

यही कारण है कि ईरान और इजराइल दोनों ही भारत के लिए महत्वपूर्ण हैं। दोनों में भारत का बहुत सारा पैसा और रणनीतिक हित दांव पर हैं। भारत के लिए दोनों में से किसी एक का पक्ष लेना आसान नहीं होगा। अगर लड़ाई बढ़ती है तो भारत को अपने नागरिकों के बारे में भी सोचना होगा। इजराइल में 18 हजार और ईरान में 10 हजार भारतीय रहते हैं। वहीं व्यापक खाड़ी क्षेत्र में 90 लाख भारतीय हैं। भारत का लगभग 40% तेल और 70% गैस पश्चिम एशिया से आता है। इसलिए अगर जंग छिड़ी तो यह भारत के लिए एक राजनीतिक और आर्थिक दुःस्वप्न की तरह होगी। हाल ही में विशेषकर यूक्रेन में हमने भारत की ओर से ऐसे बहुत सारे बैलेंसिंग एक्ट देखे हैं। लेकिन अगर ये लड़ाई आगे बढ़ी तो भारत के लिए संतुलन बनाना टेढ़ी खीर साबित होगा।

Date:17-04-24

काला धन क्यों लगातार बढ़ता जा रहा है ?

संपादकीय

भारत सरकार के पत्र सूचना कार्यालय के 15 अप्रैल के एक प्रेस नोट में चुनाव 'आयोग की तारीफ में बताया गया कि वह पिछले 1 मार्च से हर रोज औसतन 100 करोड़ रु. कैश जब्त कर रहा है। बताया गया कि चुनाव प्रभावित करने में धन-बल के जरिए वस्तुओं, ड्रग्स, नकद के रूप में इस बार सबसे ज्यादा मूल्य की जब्ती हुई, यह आजादी के बाद से अभी तक के इतिहास में सर्वाधिक है। यह जब्ती कुल 4650 करोड़ रु. मूल्य की है, जो पिछले आम चुनाव की जब्ती (3475 करोड़ मूल्य) से ज्यादा है। प्रेस नोट ने याद दिलाया कि सीईसी ने वर्तमान चुनाव में काले धन के प्रभाव को खत्म करने की आयोग की प्रतिबद्धता बताई थी। उधर प्रधानमंत्री ने भी एक इंटरव्यू में कहा कि सन् 2014 से पहले ईडी ने 34 लाख रु. कैश जब्त किया जो एक स्कूल बैग में समा जाए लेकिन पिछले दस साल में 2200 करोड़ रु. की जब्ती हुई। सवाल यह है कि अगर किसी देश में काला धन, अपराध से हासिल धन, उसके शोधन और चुनावों में ऐसे धन की भूमिका कई गुना बढ़ी है तो क्या सरकार की जवाबदेही नहीं बनती ? यह सरकार तो काला धन खत्म करने और विदेशों में जमा ऐसे धन को वापस लाने के वादे के साथ आई थी। इसने इस काले धन को खत्म करने के लिए ही नोटबंदी की थी। छह साल पहले चुनावी बॉन्ड भी इसी को खत्म करने के दावों के साथ लाए गए थे। फिर काले धन का प्रकोप चुनावों को दूषित क्यों करता रहा? लगातार बढ़ते काले धन को जब्त करने के लिए ईडी या ईसी की तारीफ तो की जा सकती है लेकिन क्या यह नहीं पूछा जाना चाहिए कि काला धन रुकने की जगह बढ़ता क्यों जा रहा है? नोटबंदी और इलेक्टोरल बॉन्ड के बाद भी यह बढ़ता क्यों रहा ?

दैनिक जागरण

Date:17-04-24

दलबदल कानून की दुर्गति

शंकर शरण, (लेखक राजनीतिशास्त्र के प्राध्यापक एवं वरिष्ठ स्तंभकार हैं)

आम चुनावों की घोषणा के पहले से शुरू हुआ दलबदल का सिलसिला अब तक कायम है। इससे अनेक जगह मतदाता भ्रमित होंगे कि चेहरा किसका है और चुनाव चिह्न कौनसा है? दलबदल केवल चुनाव के समय ही नहीं, बल्कि चुनाव बाद भी होता है। विधायी संस्थाओं को इससे बचाने के लिए दलबदल रोधी कानून बनाया गया, लेकिन वह भी अभीष्ट की पूर्ति नहीं कर पाया। आखिर दलबदल कानून क्यों विफल रहा? सर्वप्रथम, यह कानून अपनी बुनियाद में ही असंगत है। यूरोप, अमेरिका या अन्य किसी प्रतिष्ठित लोकतंत्र में ऐसा कानून नहीं है। न्यूजीलैंड में बना था, लेकिन वहां भी इसे जल्द हटा दिया गया। फिर पोलैंड, चेक, एस्टोनिया, लिथुआनिया और लातविया के अध्ययन से पाया गया कि सांसदों को दलबदल का अधिकार रहने से वास्तव में वहां दलीय व्यवस्था बेहतर एवं स्थिर हुई है। दक्षिण अफ्रीका का अनुभव भी ऐसा ही है। सभी जगह पाया गया कि सांसदों की स्वतंत्रता रहने से दलों में अपनी नीतियों-गतिविधियों को सुविचारित रखने की प्रवृत्ति रहती है।

जिन कुछ देशों में दलबदल विरोधी कानून हैं, वहां कोई खास उपलब्धि हासिल नहीं हुई। भारत का ही अनुभव है कि इससे केवल सत्ताधारी दलों के मैनेजरों की ताकत बढ़ती है। वे सांसदों, विधायकों पर पूर्ण नियंत्रण रखते हैं, जिससे दलों की महत्ता जनप्रतिनिधियों से भी ऊपर हो जाती है। सत्ताधारी दलों के शीर्ष पर विराजमान कुछ चुनिंदा लोग जनप्रतिनिधियों पर अपनी इच्छा थोपकर मनमाने फैसले करते हैं। दलबदल विरोधी कानून संविधान की भावना के भी विरुद्ध है। मूलतः इसीलिए यूरोपीय देशों में सांसदों को वैचारिक या कार्यगत स्वतंत्रता है। उन पर दलीय अंकुश नहीं है, क्योंकि संसद सर्वोच्च कानून-निर्मात्री संस्था है। यदि उसी के सदस्य के हाथ-मुंह बंधे हों, तब संसद में वे राजनीतिक दल के प्रबंधकों की कृपा के मोहताज रहेंगे। यह भी किसी से छिपा नहीं कि दलीय सूत्रधारों की तिकड़मों से ही अनेक सांसद और विधायक इस या उस पार्टी में आते-जाते हैं। प्रायः इसमें खरीद-बिक्री के आरोप लगते हैं। विधायकों को बसों में भर कर बंदी की तरह ले जाने के दृश्य बहुत आम दिखते हैं। दलबदल कानून न केवल निष्फल है, बल्कि इससे नेताओं का चरित्र गिरने-गिराने की प्रवृत्ति ही बढ़ी है। सांसदों, विधायकों की दलगत स्वतंत्रता रहने पर संयम, मर्यादा और नैतिकता का महत्व अधिक होता। यूरोप, अमेरिका, आस्ट्रेलिया, जापान आदि का यही अनुभव है। आखिर इंग्लैंड, फ्रांस, जर्मनी, जापान जैसे लोकतांत्रिक देशों में ऐसा कानून न होने से वहां कोई भगदड़ नहीं मची रहती। अमेरिकी संसद में सत्ताधारी दल की सदस्य-संख्या विपक्ष से दो-तीन कम रहने पर भी दलबदल कराकर सत्तारूढ़ की स्थिति ऊंची करने की घटनाएं नहीं होतीं।

दलबदल विरोधी कानून सिद्धांतहीन भी है। आखिर जब किसी दल के दो तिहाई सांसद/विधायकों का दूसरी पार्टी में जाना जायज है, तो दो-चार सांसद/विधायक का जाना नाजायज क्यों? इसीलिए थोक दलबदल के बाद 'असली' पार्टी और चुनाव-चिह्न वाले दावों पर न्यायालयों के फैसलों में भी विसंगति रही है। कभी वे विधायक की संख्या को आधार बताते हैं, तो कभी संगठन की बात करते हैं। जबकि पार्टी के विधायकों या सांसदों में टूट के मामलों में असली-नकली की बात ही

बेमानी है। संविधान के अनुसार संख्या का मामला विधायी सदन का है। सरकार बनाने, कोई कानून या प्रस्ताव पास करने में सदन में मत संख्या का स्थान है। किसी राजनीतिक दल की वैधता उसके सांसद/विधायक की संख्या से तय करना असंगत है। इसीलिए न्यायालय और चुनाव आयोग के निर्णय अंतर्विरोधी होते रहे हैं। यह स्थिति पुनर्विचार की मांग करती है। दलबदल को कानून द्वारा रोकना असंभव सा है। कानून बनाकर कभी भी चरित्र या नैतिकता नहीं सुनिश्चित होती। जब नैतिकता और चरित्र हो, तभी अच्छा कानून बनता है।

यह कोरी कल्पना है कि कठोर कानून बनाने से दलबदल रुकेगा, क्योंकि स्वयं कानून बनाने वाले ही दलबदल करते-कराते हैं। रोग की जड़ कहीं और है। राजनीतिक दल कोई राजकीय संस्थान नहीं हैं। वे अन्य सामाजिक, व्यापारिक संस्थाओं की तरह स्वैच्छिक संस्था हैं। इससे राज्य और संविधान का कोई लेनादेना नहीं। इसलिए दलों को विशेष महत्व न देकर अन्य संस्थाओं की तरह सामान्य एवं जवाबदेह बनाया जाए। गड़बड़ी यही हुई है कि समय के साथ हमारे राजनीतिक दल अनुचित महत्व हासिल कर राजकीय उपकरण बन गए हैं, जबकि संविधान ने राजनीतिक दलों का नोटिस तक नहीं लिया था। जैसे कोई एक कंपनी छोड़ दूसरी कंपनी में काम करने के लिए स्वतंत्र है, वही स्थिति दलों और उनके सदस्यों की भी होनी चाहिए। आखिर आम मतदाता भी समय-समय पर अपना वोट इस पार्टी के बदले अन्य को देते हैं। वही अधिकार किसी सांसद, विधायक को भी है। संविधान ने इस पर कोई रोक नहीं लगाई थी। कानून बनाकर इसे रोकने से केवल सत्ताधारी दल के मैनेजरों को ही ताकत मिली, जो अपने विधायकों-सांसदों पर लगाम लगाए रखते हैं और दूसरे दलों के विधायक-सांसद तोड़ते हैं। ऐसे में यह कानून न केवल निष्फल और अदृश्य पार्टी मैनेजरों को अनुचित ताकत देता है, बल्कि विधायक, सांसद के स्वतंत्र विचार और कार्य-अधिकार को भी बाधित करता है। इसीलिए किसी पुराने परिपक्व लोकतंत्र में ऐसा कोई कानून नहीं, क्योंकि यही मानवीय स्वतंत्रता-गरिमा के अनुकूल है।

हमारी संसद, चुनाव आयोग तथा सुप्रीम कोर्ट को प्रतिष्ठित लोकतंत्रों के आदर्श व्यवहारों का आकलन कर देश में भी राजनीतिक दलों के विशेषाधिकार खत्म करने चाहिए। दल और राज्य का घालमेल बंद होना चाहिए। दलों को भी अन्य सामाजिक संस्थाओं की तरह अपने आय-व्यय के लिए समान रूप से सार्वजनिक स्तर पर उत्तरदायी बनाना चाहिए। तभी दलों की ओर संदिग्ध, लोभी और अयोग्य लोगों का आकर्षण घटेगा। जब राजनीतिक दल अन्य सामाजिक संस्थाओं की तरह जवाबदेह बनाए जाएंगे, तभी उनके अनुपयुक्त तत्वों द्वारा राज्य-तंत्र का दोहन करने की आशंका घटेगी। तब स्वतः अनेक बुराइयां कम हो जाएंगी, जो अभी दलों को तरह-तरह के कानूनों से छूट तथा अन्य कई विशेषाधिकार मिल जाने से बनी हुई हैं। मुख्य ध्यान इस बिंदु पर ही देना चाहिए। यही न्यायोचित और संविधानसम्मत भी होगा।

जनसत्ता

Date:17-04-24

शिक्षा का व्यवसायीकरण बनाम ज्ञान

नवनीत शर्मा

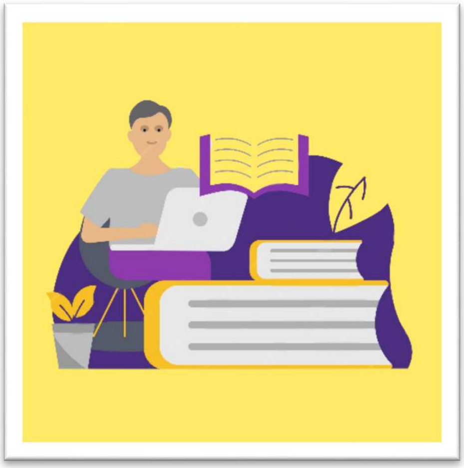

भारतीय शिक्षा व्यवस्था दुनिया की वृहद व्यवस्थाओं में से एक है। लगभग साढ़े छब्बीस करोड़ विद्यार्थी, जो स्कूल योग्य उम्र के कुल बच्चों का चौहत्तर फीसद है, भारतीय स्कूलों में नामांकित हैं। इस व्यापक व्यवस्था के बनने में कई ऐतिहासिक पड़ाव रहे हैं, जो फिलहाल पौने तेरह करोड़ लड़कियों और पौने चौदह करोड़ लड़कों को शिक्षा प्रदान करती है। इसमें कुल स्कूलों की संख्या करीब चौदह लाख है, जिसमें साढ़े बाईस फीसद निजी स्कूल हैं। इसमें अगर प्राथमिक और माध्यमिक स्कूलों के बीच के अंतर को नजरअंदाज भी कर दें, जो प्राइमरी स्कूलों की संख्या (लगभग बारह लाख) का मात्र साढ़े बारह फीसद (लगभग डेढ़ लाख) है, तो भी लगभग सात करोड़ विद्यार्थी माध्यमिक और उच्चतर माध्यमिक कक्षाओं में अध्यनरत हैं। यह संख्या एक बड़े व्यापार को ग्राहक मुहैया कराती है, जो ट्यूशन और कोचिंग के नाम से एक नए तंत्र की संरचना करती है। साथ ही, उच्च शिक्षा के लिए होने वाली प्रवेश परीक्षाएं और नौकरी के लिए प्रतियोगी परीक्षाएं भी इस व्यापार को उर्वर जमीन मुहैया कराती हैं।

राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण के अनुसार ग्रामीण क्षेत्रों में सत्ताईस फीसद और शहरी क्षेत्रों में अड़तीस फीसद विद्यार्थी माध्यमिक स्तर पर ट्यूशन या कोचिंग ले रहे हैं। पिछले केवल चार वर्षों (2018 से 2022) में निजी ट्यूशन केंद्रों की संख्या में बारह फीसद की बढ़ोतरी हुई है। मौजूदा आकलन के अनुसार कोचिंग का बाजार लगभग अट्ठावन हजार करोड़ रुपए का है, जिसके 2028 तक एक लाख चौंतीस हजार करोड़ रुपए का हो जाने का अनुमान है। इन आंकड़ों के बीच कई प्रश्न उठते हैं।

मसलन, क्या इन कोचिंग केंद्रों की बढ़ती संख्या मौजूदा शिक्षा व्यवस्था की गुणवत्ता पर आक्षेप है? इन केंद्रों में ऐसा क्या पढ़ाया जाता है जो स्कूलों और महाविद्यालयों में नहीं पढ़ाया जा रहा है? ज्ञान के ऐसे कौन-से सोपान और घटक हैं, जो स्कूली या इसके संस्थानीकरण में छिटक और इन ट्यूशन और कोचिंग केंद्रों द्वारा समेटे जाते हैं? इन केंद्रों में पढ़ाने वाले अध्यापक कौन-सी शिक्षण विधि अपना रहे हैं, जिससे सौ फीसद अधिगम होने की संभावना रहती है और यह शिक्षण विधि हमारे स्कूली और महाविद्यालयी अध्यापकों से क्यों अछूती रहती है? क्या स्कूलों और महाविद्यालयों में संरचनागत ढांचों और संसाधनों का ऐसा अभाव है, जहां कारगर शिक्षण अधिगम नहीं हो पा रहा है? अध्यापक-विद्यार्थी अनुपात भी 1:27 है, फिर किन वजहों से पाठ्यक्रम, शिक्षण विधि और मूल्यांकन की संस्थागत प्रक्रियाएं वह ज्ञान और शिक्षा विद्यार्थियों को मुहैया नहीं करा पा रही हैं, जिनके लिए उन्हें ट्यूशन और कोचिंग की राह पकड़नी पड़ती है?

क्या स्कूल और तमाम शिक्षा के केंद्र, ज्ञान के किसी ऐसे स्वरूप से अनभिज्ञ हैं, जो उसे अधिक वांछनीय और उपयोगी बनाता है? परीक्षाएं अगर ज्ञान के वस्तुनिष्ठ स्वरूप को वैध करार देती हैं, तो यह वस्तुनिष्ठता क्या स्कूल द्वारा पोसी नहीं जाती है? और अगर वस्तुनिष्ठता का पोषण इन वैध शिक्षण संस्थाओं में होता है, तो कोचिंग या ट्यूशन केंद्र जैसे राज्येतर कारक शिक्षा और ज्ञान को लेकर ऐसा व्यापक हस्तक्षेप कैसे कर पा रहे हैं?क्या यह ज्ञान के उत्तर-आधुनिकीकरण का संकेत है, जहां ज्ञान का सूचना मात्र में तब्दील हो जाना है और यह कोचिंग संस्थान बखूबी कर पाते हैं और ज्ञान/ सूचना के रटने के नवाचारी तरीके इजाद कर लेते हैं, जो स्कूल या महाविद्यालय में संभव या वांछनीय नहीं है।

अभी तीन दशक पहले तक जो विद्यार्थी ट्यूशन पढ़ते थे उनकी अकादमिक क्षमता कमतर मानी जाती थी और ट्यूशन या कोचिंग को निदानात्मक ज्ञान केंद्र के रूप में ही मान्यता थी। बाजार के उदारीकरण के साथ ही ज्ञान और शिक्षा के उदार स्वरूप ज्ञान ने एक 'वस्तु' का आकार ले लिया, जिसका विनिमय निश्चित शुल्क के साथ किया जा सके। वैसे तो ज्ञान कभी भी मुफ्त और निशुल्क नहीं रहा। सदा राज्य के संरक्षण पर आश्रित रहा है, पर इस नवउदारीकरण के दौर में ज्ञान और इसका वस्तुकरण एक सुनिश्चित 'गारंटी' के साथ आने लगा, जिसकी बानगी उन लंबे-चौड़े होर्डिंगों पर देखी जा सकती है, जिनमें विद्यार्थियों के चित्र उनकी सफलता और उपलब्धि के साथ घोषित करते हुए यह आश्वासन देते हैं कि अगर आप हमारी संस्था में कोचिंग लेंगे, तो अगला चित्र आपका होगा।

इस पूरी प्रक्रिया ने ज्ञान का वह स्वरूप निर्मित किया, जिसमें ज्ञान के रचे जाने के वैयक्तिक उपक्रम को रटे जाने मात्र से विस्थापित कर दिया। साथ ही एक और नया बाजार रचा, जिसमें कुछ खाद्य पदार्थ और पेय बुद्धि लब्धि बढ़ाने और मेमोरी चार्जर (स्मृति आवेशक) होने का दावा करने लगे। इन सब सुविधाओं से परिपूर्ण होने पर अगर छात्र सफल नहीं होता तो यह व्यवस्था की नहीं, उसकी निजी विफलता मानी जाती है। 2021 के राष्ट्रीय अपराध रिकार्ड ब्यूरो के अनुसार उस वर्ष तेरह हजार विद्यार्थियों ने इस 'विफलता' के चलते आत्महत्या की। यानी प्रतिदिन पैंतीस विद्यार्थी जीने की इच्छा खो देते हैं।

यह पूरी व्यवस्था इतनी विकट बन चुकी है कि सरकार को विधेयक लाकर नियमन करना पड़ा कि सोलह वर्ष से कम आयु के विद्यार्थी को किसी भी कोचिंग केंद्र में प्रवेश नहीं दिया जा सकेगा, पर इस तरह के औपचारिक नियम और अधिक गैर-विधिक प्रक्रियाओं को जन्म देंगे। 'सा विद्या या विमुक्तये' की पौराणिक सूक्ति को भारतीय शिक्षा विमर्श में न जाने कब सफलता और नौकरी की गारंटी में अनूदित कर दिया गया! शिक्षा और ज्ञान के डिजिटलीकरण ने भी एक भिन्न दुनिया की रचना की है। मशीनी मेधा के युग में मानवीय मेधा की प्रतियोगिता अब दूसरे मानव से न होकर मशीन से हो गई है। शिक्षा की मशीनी प्रक्रिया शायद हमें सक्षम और सफल भले बना दे, पर इससे निर्मित होने वाली मनुजता को हम अवश्य खो देंगे।

इन तमाम परीक्षा, सफलता आश्वासन केंद्रित संस्थानों ने सारे ज्ञान को 'सामान्य ज्ञान' में बदल दिया है। विशिष्ट ज्ञान और समझ को व्यक्तिगत समझकर खारिज कर दिया है। ज्ञान के इस वाणिज्यीकरण से गलाकाट प्रतियोगिता तो पनप सकती है, पर 'सर्वे भवंतु सुखिन:' का दर्शन नहीं। यह वाणिज्यीकरण ज्ञान और सत्य के एकाकार को भी चुनौती देता है और सत्यान्वेषण को भी। शिक्षा और आर्थिक गतिशीलता के सह-संबंध को सामाजिक मान्यता पहले से प्राप्त है।

कोचिंग और ट्यूशन केंद्र उसे नैतिक मान्यता प्रदान करते हैं। शिक्षा और ज्ञान के साहचर्य से होने वाले अन्योन्याश्रित व्यक्ति और व्यक्तित्व के विकास को नजरअंदाज कर ज्ञान का वाणिज्यीकरण ज्ञान को मात्र ज्ञान या सूचना भर मान लेना स्थापित करता है। स्कूलीकरण, शिक्षा और ज्ञान हमारे निर्णय और चयन की क्षमता में संवर्धन करते और इसके बरक्स रटंत ज्ञान केवल एक सुनिश्चित तरह का प्रदर्शन या अदाकारी सिखाता है। ज्ञान और ज्ञाता, अधिगम और व्यवहार का ऐसा विछोह इस संकट को और गहराएगा और इस वाणिज्यीकरण की प्रक्रिया में तेजी लाएगा।

राष्ट्रीय सहारा

Date:17-04-24

मजबूत रहे न्यायपालिका

संपादकीय

अबकी बार पूर्व न्यायाधीशों ने 'न्यायपालिका को अनावश्यक दबाव से बचाने के लिए' देश के प्रधान न्यायाधीश डीवाई चंद्रचूड़ को एक पत्र लिखा है। सुप्रीम कोर्ट के चार और हाई कोर्ट के 17 पूर्व न्यायाधीशों ने किसी का नामोल्लेख किए बिना आरोप लगाया है कि कुछ लोग यानी वकील 'अपने संकीर्ण राजनीतिक हितों एवं व्यक्तिगत लाभों से प्रेरित होकर न्यायिक संस्था को कमजोर करने में लगे हैं'। जस्टिस चंद्रचूड़ से ऐसे तत्वों के झांसे में न आकर न्यायिक गरिमा को अक्षुण्ण रखने का आह्वान किया गया है। इसी तरह की भाषा-शैली में आज से तीन हफ्ते पहले सर्वोच्च एवं उच्च न्यायालयों के 600 अधिवक्ताओं, जिनमें हरीश साल्वे जैसे दिग्गज शामिल थे, ने जस्टिस चंद्रचूड़ को एक पत्र लिखा था। इसमें भी न्यायपालिका के सामने आ रही वैसी ही कठिनाइयों का जिक्र किया गया था। प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी ने इसकी जड़ कांग्रेस की 'प्रतिबद्ध न्यायपालिका बनाने की मानसिकता' में बताया था तो उजागर हुआ था कि पत्र का ताल्लुक कांग्रेसी विचारधारा के अधिवक्ताओं से है, जो पीठ या न्यायाधीशों पर मनमाफिक फैसले के लिए 'अनुचित दबाव और प्रभाव' डालते हैं। पत्र पर दस्तखत करने वाले जस्टिस ढींगरा ने एक इंटरव्यू में कपिल सिब्बल का नाम लेते हुए कहा है कि वे मामले में 'पैरवी के दौरान केस की मेरिट पर दलीलें न देकर कहने लगते हैं कि अगर इसे छोड़ा नहीं गया तो बवाल हो जाएगा' आदि। इसी समूह में प्रशांत भूषण और अभिषेक मनु सिंघवी के भी नाम हैं । और भी नाम हो सकते हैं। ये लोग पहले इजलास के अंदर और इसके बाहर इंटरव्यू एवं लेखों के जरिए उन फैसले को सरकार के दबाव में दिया बता कर उनकी अतार्किक आलोचनाएं करते हैं, जो उनके विरोध में आए होते हैं। इससे न्यायपालिका पर खामख्वाह दबाव बनता है। एक बार जस्टिस चेलमेश्वर ने भी 'इन करोड़ी समूह के अधिवक्ताओं से दिक्कत बताई थी । न्यायिक क्षेत्र - निचली से लेकर सर्वोच्च अदालत तक में हाल के दशकों में यह एक फेनोमिना के रूप में विकसित हुआ है। इसमें मनचाही खंडपीठ के लिए तो पीठ बदलने के लिए जोर-जबर्दस्ती की जाती है। इस समस्या का समूचा हिस्सा न्यायालय ही नहीं है। राजनीतिक विचारधारा और सबसे अधिक उसकी सत्ता भी है। दबावकारी प्रवृत्ति बढ़ी है तो इसकी वजह कुछेक न्यायाधीशों में सत्ता के नजदीक जाने की कमजोरी भी है। यह दबाव से काम करा ले जाने का साहस पैदा करता है।